ध्यान : स्वरूप और चिन्तन

❑ श्री रमेश मुनि शास्त्री

निर्जरा तत्त्व का ही एक प्रकार है - ध्यान। अशुभ ध्यान / आर्त्त-रौद्र संसार वृद्धि का कारण है तो शुभ ध्यान/धर्म-शुक्ल शाश्वत सुखों की प्राप्ति में सहायक है। वस्तुतः मन का अन्तर्मुखी एवं अन्तर्लीन हो जाना ही ध्यान है। ध्यान - बिखरी हुई चित्तवृत्तियों के एकीकरण का अमोघ साधन है। ध्यान अज्ञानांधकार को विनष्ट कर अन्तश्चेतना में आलोक ही आलोक व्याप्त कर उसे ज्योतिर्मय बना देता है। ध्यान का सांगोपांग विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं - विद्वद्वर्य श्री रमेशमुनि जी म. 'शास्त्री'।

— सम्पादक

तप अध्यात्म-साधना का प्राणभूत तत्त्व है। जैसे शरीर में उष्मा जीवन के अस्तित्त्व का ज्वलन्त प्रतीक है, वैसे ही साधना में तप उस के ज्योतिर्मय अस्तित्त्व को अभिव्यक्त करता है। तप के अभाव में न निग्रह होता है और न अभिग्रह ही हो सकता है।

तप मूलतः एक है, अखण्ड है तथापि सापेक्ष दृष्टि से उसके दो वर्गीकृत रूप है। प्रथम बाह्य तप है और द्वितीय आभ्यन्तर तप है। इन दोनों के छः - छः प्रकार हैं। कुल मिलाकर तप के द्वादश भेद हैं। संक्षेप में उन का निर्देश इस प्रकार हैं।

१. बाह्य तप - जो तप बाहर में दिखलाई देता है या जिस में शरीर तथा इन्द्रियों का निग्रह होता है, वह बाह्य तप है, इस के छह भेद हैं।

१- अनशन	४- रस परित्याग
२- अवमोदरिका	५- कायक्लेश
३- भिक्षाचर्या	६- प्रतिसंलीनता

२. आभ्यन्तर तप - जिस तप में अन्तःकरण के व्यापारों की प्रधानता होती है। वह आभ्यन्तर तप है। इस के छह प्रकार हैं।

१. प्रायश्चित	२. विनय
३. वैयावृत्य	४. स्वाध्याय
५. ध्यान	६. व्युत्सर्ग

यह जो वर्गीकरण है, वह तप की प्रक्रिया को समझाने के लिये है। बाह्य तप से, तप का प्रारम्भ होता है और उस की पूर्णता आभ्यन्तर तप में होती है। ये दोनों तप एक दूसरे के पूरक हैं।

ध्यान = तप के बारह भेदों में - "ध्यान" ग्यारहवाँ प्रकार है और आभ्यन्तर तप में ध्यान का पाँचवां स्थान हैं। मन की एकाग्र अवस्था "ध्यान" है। अपने[3] विषय में मन का एकाग्र हो जाना "ध्यान" है। चित्त को किसी भी विषय में एकाग्र करना, स्थिर कर देना "ध्यान" है[4]। शुभ और पवित्र आलम्बन पर एकाग्र होना "ध्यान" है[5]। इसी सन्दर्भ में एक विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है कि मन का किसी भी विषय में स्थिर होना ही यदि "ध्यान" है तो लोभी मानव का ध्यान तो धनार्जन में लगा रहता है, चोर का ध्यान वस्तु को चुराने में लगा रहता है, क्या वह भी ध्यान है? उक्त प्रश्न का समाधान है कि पापात्मक चिन्तन की एकाग्रता भी ध्यान है। ध्यान दो

१. स्थानांगसूत्र स्थान - ६ सूत्र ६५
२. समवायांग सूत्र, समवाय ६ सूत्र ३१
३. अभिधान चिन्तामणि कोष ६/४५
४. आवश्यक निर्युक्ति - १४५६
५. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका - १८/११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार का है। प्रथम शुभ ध्यान है और द्वितीय 'अशुभ ध्यान' है। शुभ ध्यान मोक्ष-प्राप्ति का हेतु है और अशुभ ध्यान संसार वृद्धि का प्रमुख कारण है। शुभ ध्यान ऊर्ध्वमुखी होता है तो अशुभ ध्यान अधोमुखी होता है। मन की अन्तर्लीनता, अन्तर्मुखता शुभ ध्यान है। मन तो स्वभावतः चंचल है। वह लम्बे समय तक एक वस्तु पर स्थिर नहीं रह सकता। उसे किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित करना अत्यन्त ही कठिन है। वह अन्तर्मुहूर्त से अधिक एकाग्र नहीं रह सकता[६]। यह ध्रुव सत्य है कि ध्यान साधना के लिये परिग्रह-त्याग, कषाय-निग्रह, व्रत-धारण और इन्द्रिय-विजय करना नितान्त आवश्यक है, अनिवार्य है।

ध्यान के भेदों और उपभेदों के विषय में विशद एवं विस्तृत रूप से विचारणा हुई है। ध्यान के मुख्य भेद चार हैं। उन के नाम इस प्रकार हैं –

१. आर्त्तध्यान	३. धर्म ध्यान
२. रौद्र ध्यान	४. शुक्ल ध्यान

इन चार भेदों में, प्रारम्भ के दो ध्यान, अप्रशस्त हैं, अशुभ हैं अतएव ये दोनों प्रकार तप की कोटि में नहीं आते हैं। अन्तिम के दो ध्यान प्रशस्त हैं, शुभ हैं और वे तप की सीमा में समाविष्ट हैं। इन चारों ध्यानों का स्वरूप एवं सविस्तृत विचारणा, इस प्रकार की जा रही है।

१. आर्त्तध्यान - आर्ति नाम दुःख अथवा पीड़ा का है। उस में से जो उत्पन्न हो, वह आर्त्त है अर्थात् दुःख के निमित्त से या दुःख में होने वाला ध्यान आर्त्तध्यान" है। प्रस्तुत ध्यान मनोज्ञ वस्तु के वियोग एवं अमनोज्ञ वस्तु के संयोग से होता है। परिणामतः अवांछनीय पदार्थ की उपलब्धि तथा अवांछनीय वस्तु की अनुपलब्धि होने पर जीव दुःखी होता है। इस ध्यान के चार प्रकार हैं। उन का स्वरूप इस प्रकार है।

१. अमनोज्ञ वस्तुओं की प्राप्ति होने पर उनके वियोग की चिन्ता करना!
२. मनोज्ञ - वस्तुओं की प्राप्ति होने पर उनके अवियोग की चिन्ता करना।
३. आतंक - घातक रोग होने पर उसके दूर करने का चिन्तन करना।
४. परिसेवित या प्रीतिकारक काम भोगों का संयोग होने पर उस का वियोग न हो, ऐसा चिन्तन करना।

अमनोज्ञ, अप्रिय और अनिष्ट ये तीनों एकार्थक शब्द हैं। इसी प्रकार इष्ट, प्रिय और मनोज्ञ ये तीनों एकार्थकवाची हैं। अनिष्ट वस्तु का संयोग अथवा इष्ट वस्तु का वियोग होने पर जो दुःख, शोक, संताप, आक्रन्दन और परिवेदन करता है, वह सब आर्त्तध्यान कहलाता है।

आर्त्तध्यान के चार लक्षण हैं, वे इस प्रकार हैं।

१. **क्रन्दनता** - उच्च स्वर से बोलते हुए रोना।
२. **शोचनता** - दीनता प्रगट करते हुए शोक करना।
३. **तेपनता** - बार-बार अश्रुपात करना।
४. **परिदेवनता** - विलाप करना।

---

६. (क) ध्यान शतक - ३
(ख) तत्त्वार्थ सूत्र -६/२८
(ग) योग प्रदीप - १५/३३
७. (क) स्थानांग सूत्र - स्थान ४, उद्दे. १, सूत्र २४
(ख) समवायांग सूत्र, समवाय ४ सूत्र २
(ग) भगवती सूत्र - शतक २५, उद्दे. ७ सूत्र २८२
(घ) औपपातिक सूत्र, सूत्र ३०
(ङ) आवश्यक निर्युक्ति - १४५८
(८) क. आवश्यक अध्ययन - ४
(ख) भगवती सूत्र - शतक २५ उद्दे ७. सू. २३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसे ध्यानी प्राणी का मन आत्मा के ज्योतिर्मय - स्वभाव से हट कर सांसारिक वस्तुओं में केन्द्रित होता है उसी में तन्मय बन जाता है।

२. **रौद्र ध्यान** – इस ध्यान में जीव सभी प्रकार के पापाचार करने में समुद्यत होता है। क्रूर या कठोर भाव वाले प्राणी को रुद्र कहते हैं वह निर्दयी बन कर क्रूर कार्यों का कर्ता बनता है इसलिये उसे रौद्र ध्यान कहते हैं। इस ध्यान के चार प्रकार हैं। वे ये हैं –

१. **हिंसानुबन्धी** – निरन्तर हिंसक प्रवृत्ति में तन्मयता कराने वाली चित्त की एकाग्रता।

२. **मृषानुबन्धी** – असत्य भाषण सम्बन्धी एकाग्रता।

३. **स्तेनानुबन्धी** – चोरी करने -कराने सम्बन्धी एकाग्रता।

४. **संरक्षणानुबन्धी** – परिग्रह के अर्जन एवं संरक्षण सम्बन्धी तन्मयता।

रौद्र ध्यान के चार लक्षण हैं, उनका स्वरूप इस प्रकार है।

१. **उत्सन्न दोष** – हिंसादि किसी एक पाप में निरन्तर प्रवृत्ति करना।

२. **बहुदोष** – हिंसादि सभी पापों के करने में संलग्न रहना।

३. **अज्ञान दोष** – कुशास्त्रों के संस्कार से हिंसादि अधार्मिक कार्यों को धर्म मानना।

४. **आमरणान्त दोष** – मरण काल तक भी हिंसादि करने का अनुपान न होना।

रौद्रध्यानी व्यक्ति कठोर और संक्लिष्ट परिणाम वाला होता है। वह दूसरे के दुःख, कष्ट एवं संकट में तथा पाप कार्य में प्रसन्न होता है, उस के मन में दयाभाव का अभाव होता है।

३. **धर्म ध्यान** - प्रस्तुत ध्यान आत्म-विकास का प्रथम चरण है। उक्त ध्यान में साधक आत्म चिन्तन में प्रवृत्त होता है। शास्त्र वाक्यों के अर्थ, धर्म मार्गणाएँ, व्रत, समिति, गुप्ति आदि भावनाओं का चिन्तन करना धर्मध्यान है इस ध्यान के लिये ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य नितान्त अपेक्षित है। इन से सहज रूप से मन सुस्थिर हो जाता है। इस ध्यान की सिद्धि के लिये मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य इन चार भावनाओं का चिन्तन करना अनिवार्य[११] है। धर्मध्यान का सम्यक् आराधन एकान्त स्थान में हो सकता है। ध्यान आसन सुखकारक हो, जिस से ध्यान की मर्यादा स्थिर रह सके। यह ध्यान पद्मासन से बैठकर या खड़े होकर भी किया जा सकता है।[१२] धर्मध्यान में मुख्य तीन अंग है – ध्याता, ध्यान और ध्येय। ध्यान का अधिकारी ध्याता है। एकाग्रता-ध्यान है। जिस का ध्यान किया जाता है, वह ध्येय है। चंचल मन वाला मानव ध्यान नहीं कर सकता। जहाँ आसन की स्थिरता ध्यान-साधना में आवश्यक है, वहाँ मन की स्थिरता भी अति अपेक्षित है। मानसिक चंचलता के कारण कभी-कभी साधक का मन ध्यान में स्थिर नहीं होता। इसलिये धर्म ध्यान के चार भेद हैं।[१३] उनका

९ (क) ज्ञानार्णव २४/३।
(ख) तत्त्वार्थ सूत्र ४/३६।

१० ज्ञानसार १६।

११ ज्ञानार्णव २५/४।

१२ ध्यान शतक - श्लोक ३८-३९।

१३ (क) स्थानांग सूत्र ४/१/६५
(ख) भगवती सूत्र २५/७/२४२।
(ग) योग शास्त्र - १०/७।
(घ) ज्ञानार्णव ३०/५।
(ङ) तत्त्वानुशासन ६/८।

१४. योगशास्त्र - १०/१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूप इस प्रकार हैं –

१. **आज्ञा विचय** – जिन आज्ञा रूप प्रवचन के चिन्तन में संलग्न रहना।

२. **अपाय विचय** – संसार - पतन के कारणों का विचार करते हुए उन से बचने का उपाय करना।

३. **विपाक विचय** – कर्मों के फल का विचार करना।

४. **संस्थान विचय** – जन्म-मृत्यु के आधार भूत पुरुषाकार लोक के स्वरूप का चिन्तन करना।

यहाँ "विचय" शब्द का अर्थ – चिन्तन है।

ध्येय के विषय में तीन बातें मुख्य हैं। वे इस प्रकार हैं।

१. एक, **परावलम्बन** – जिस में दूसरी वस्तुओं का अवलम्बन लेकर मन को स्थिर करने का प्रयास किया जाता है। जब एक पुद्गल पर दृष्टि केन्द्रित हो जाती है तो मन स्थिर हो जाता है।

२. दूसरा प्रकार **स्वरुपालम्बन** है। इस में बाहर से दृष्टि हटा कर नेत्रों को बन्द कर विविध प्रकार की कल्पनाओं से यह ध्यान किया जाता है।

३. तीसरा प्रकार है – **निरावलम्बन**। इस में किसी भी प्रकार का कोई आलम्बन नहीं होता। मन विचार, विकार और विकल्पों से शून्य होता है। इस में निरंजन, निराकार सिद्ध-स्वरूप का ध्यान किया जाता है। और आत्मा स्वयं कर्म-मल से मुक्त होने का अभ्यास करता है। इस ध्यान में साधक यह सम्यक्रुपेण समझ लेता है कि मैं आत्मा हूँ, इन्द्रियाँ और मन अलग हैं। ध्यान-साधक स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है। रूप से अरूप की ओर बढ़ने के लिये अत्यधिक अभ्यास की आवश्यकता है। रूपातीत ध्यान जब सिद्ध हो जाता है, तब भेदरेखा समाप्त हो जाती है। ध्याता, ध्यान और ध्येय ये तीनों एकाकार हो जाते हैं। ध्येय के चार भेद हैं।[१५] उन का स्वरूप इस प्रकार है –

१. **पिण्डस्थ** – इस का अर्थ है - शरीर के विभिन्न भागों पर मन को केन्द्रित करना। पिण्डस्थ ध्यान पिण्ड से सम्बन्धित है। इस में पांच धारणाएँ होती हैं,[१६] उन के नाम ये हैं —

१. पार्थिवी।
२. आग्नेयी।
३. मारुती।
४. वारुणी।
५. तत्त्ववती।

इन पांच धारणाओं के माध्यम से साधक उत्तरोत्तर आत्म-केन्द्र में ध्यानस्थ होता है। चतुर्विध धारणाओं से युक्त पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास करने से मन स्थिर होता है जिस से शरीर और कर्म के सम्बन्ध को भिन्न रूप से देखा जाता है। कर्म नष्ट कर आत्मा के ज्योतिर्मय स्वरूप का चिन्तन इस में होता है।

२. **पदस्थ** – अपनी रुचि के अनुसार मन्त्राक्षर पदों का अवलम्बन लेकर किया जाने वाला ध्यान है। इस ध्यान में मुख्य रूप से शब्द आलम्बन होता है। अक्षर पर ध्यान करने से इसे वर्णमात्रिक ध्यान भी कहते है[१७]। इस ध्यान में नाभिकमल, हृदयकमल और मुख कमल की कमनीय कल्पना की जाती है। मन्त्रों और वर्णों में श्रेष्ठ ध्यान "अर्हन्" का माना गया है। जो रेफ से युक्त कला व बिन्दु से आक्रान्त अनाहत सहित मन्त्रराज[१८] है। इस

१५(क) योग शास्त्र ७/८।
(ख) योगसार - ९८।
(ग) ज्ञानार्णव - ३१ सर्ग, ३७ सर्ग, ४१ सर्ग।
१६ योगशास्त्र ७/९। ७/१० ३५
१७ ज्ञानार्णव ३५ - १,२।
१८ ज्ञानार्णव ३५ - ७-८।
१९ (क) ज्ञानार्णव ३६-१६।
(ख) योगशास्त्र १०/८।
२० (क) भगवतीसूत्र २५/७।। (ख) तत्त्वार्थसूत्र ९/४१।।
(ग) स्थानांगसूत्र ४/१।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन्त्रराज पर ध्यान किया जाता है। इस ध्यान में साधक इन्द्रियलोलुपता से मुक्त होकर मन को अधिक विशुद्ध एवं एकाग्र बनाने का प्रयास करता है।

३. **रूपस्थ** – इस में राग, द्वेष आदि विकारों से रहित, समस्त सद्गुणों से युक्त, सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु का ध्यान किया जाता है। उनका अवलम्बन लेकर ध्यान का अभ्यास किया जाता है।

४. **रूपातीत** – इस का अर्थ है रूप-रंग से अतीत, निरंजन-निराकार ज्ञानमय आनन्द-स्वरूप का स्मरण करना।[१८] इस ध्यान में ध्याता और ध्येय में कोई अन्तर नहीं रहता है।

इन चारों धर्मध्यान के प्रकारों में क्रमशः शरीर, अक्षर, सर्वज्ञ व निरंजन सिद्ध का चिन्तन किया जाता है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ा जाता है।

धर्मध्यान के चार लक्षण हैं, उनका स्वरूप इस प्रकार हैं –

१. **आज्ञारुचि** – जिन आज्ञा के चिन्तन - मनन में रुचि, श्रद्धा होना
२. **निसर्ग रुचि** – धर्म-कार्यों के करने में स्वाभाविक रुचि होना।
३. **सूत्र रुचि** – आगमों के पठन-पाठन में रुचि होना।
४. **अवगाढ़रुचि** – द्वादशांगी का गम्भीर ज्ञान प्राप्त करने में प्रगाढ़ रुचि होना।

धर्म ध्यान के चार आलम्बन हैं, इनका स्वरूप इस प्रकार हैं –

१. वाचना – आगम सूत्र का पठन - पाठन करना।
२. प्रतिपृच्छना – शंका निवारणार्थ गुरुजनों से पूछना।
३. परिवर्तना – पठित सूत्रों का पुनरावर्तन करना।
४. अनुप्रेक्षा – अर्थ का चिन्तन करना।

धर्म ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं, उन का स्वरूप इस प्रकार है।

१. **एकत्वानुप्रेक्षा** – जीव के सदा अकेले परिभ्रमण और सुख - दुःख भोगने का चिन्तन करना।
२. **अनित्यानुप्रेक्षा** – सांसारिक - वस्तुओं की अनित्यता का चिन्तन करना।
३. **अशरणानुप्रेक्षा** – जीव को कोई दूसरा धन, परिवार आदि शरणभूत नहीं, ऐसा चिन्तन करना।
४. **संसारानुप्रेक्षा** – चतुर्गति रूप संसार की दशा का चिन्तन करना।

धर्म ध्यान, सभी प्राणी नहीं कर सकते। इस ध्यान से मन में स्थैर्य व पवित्रता आ जाती है। प्रस्तुत ध्यान शुक्ल ध्यान की भूमिका का निर्माण करता है।

४. **शुक्ल ध्यान** – प्रस्तुत ध्यान ध्यान की परम उज्ज्वल अवस्था है। मन की आत्यन्तिक स्थिरता और योग का निरोध शुक्ल ध्यान है। शुक्लध्यानी देहातीत स्थिति में रहता है। शुक्लध्यान के चार भेद हैं, उन का स्वरूप इस प्रकार है।

१. **पृथक्त्ववितर्क सविचार** – पृथक्त्व का अर्थ है – भेद। वितर्क का तात्पर्य है – श्रुत। प्रस्तुत ध्यान में द्रव्य, गुण और पर्याय पर चिन्तन करते हुए द्रव्य से पर्याय पर और पर्याय से द्रव्य पर चिन्तन किया जाता है। इस में भेद प्रधान चिन्तन होता है।

२. **एकत्त्व वितर्क अविचार** – पूर्वगत श्रुत का आधार लेकर उत्पाद आदि पर्यायों के एकत्व अर्थात् अभेद रूप से किसी एक पदार्थ या पर्याय का स्थिर चित्त से चिन्तन करना एकत्व वितर्क अविचार शुक्ल ध्यान कहलाता है।

३. **सूक्ष्म क्रियाऽप्रतिपाति** – यह ध्यान बहुत ही सूक्ष्म क्रिया पर चलता है। इस ध्यान में अवस्थित होने पर योगी पुनः ध्यान से विचलित नहीं होता। इस कारण इस ध्यान को सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाति कहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. **समुच्छिन्नक्रिय-अनिवृत्ति** – शैलेसी अवस्था को प्राप्त केवली भगवान् सभी योगों का निरोध कर देते हैं। योगों के निरोध से सभी क्रियाओं का अभाव हो जाता है। इस ध्यान में लेश मात्र भी क्रिया शेष नहीं रहती है।

शुक्ल ध्यान के चार लक्षण हैं, उन का स्वरूप इस प्रकार है –

१. **क्षान्ति** – क्रोध न करना, और उदय में आये हुए क्रोध को विफल कर देना।
२. **मुक्ति** – लोभ का त्याग है, उदय में आये हुए लोभ को विफल कर देना।
३. **आर्जव** – सरलता। माया को उदय में नहीं आने देना, उदय में आयी माया को विफल कर देना।
४. **मार्दव** – मान न करना, उदय में आये हुए मान को निष्फल कर देना।

शुक्ल ध्यान के चार आलम्बन हैं, उन का स्वरूप इस प्रकार हैं –

१. **अव्यय** – शुक्लध्यानी परिषहों और उपसर्गों से डर कर, ध्यान से विचलित नहीं होता।
२. **असम्मोह** – शुक्लध्यानी को देवादिकृत माया में या अत्यन्त गहन सूक्ष्म विषयों में सम्मोह नहीं होता।
३. **विवेक** – शुक्लध्यानी शरीर से आत्मा को भिन्न तथा शरीर से सम्बन्धित सभी संयोगों को आत्मा से भिन्न समझता है।
४. **व्युत्सर्ग** – वह अनासक्त भाव से शरीर और समस्त संयोगों को आत्मा से भिन्न समझता है।

शुक्ल ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ, उनका स्वरूप इस प्रकार है –

१. **अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा** – संसार में परिभ्रमण की अनन्तता का विचार करना।
२. **विपरिणामानुप्रेक्षा** – पदार्थों के भिन्न-भिन्न परिणमनों का विचार करना।
३. **अशुभानुप्रेक्षा** – संसार, शरीर और भोगों की अशुभता का विचार करना।
४. **अपायानुप्रेक्षा** – राग-द्वेष से होने वाले दोषों का विचार करना।

ये चारों अनुप्रेक्षाएँ शुक्ल ध्यान की प्राथमिक अवस्थाओं में होती है, जिससे आत्मा अन्तर्मुखी बनती है और स्वतः ही बाह्योन्मुखता समाप्त हो जाती है।

सारपूर्ण भाषा में यही कहा जा सकता है कि ध्यान एक सर्वोत्तम साधन है, जिससे, बिखरी हुई चित्तवृत्तियाँ एक ही केन्द्र पर सिमट आती हैं। यथार्थ अर्थ में ध्यान एक ऐसी अक्षय एवं अपूर्व ज्योति है, जो हमारी अन्तश्चेतना को ज्योतिर्मयी बनाती है, अन्तर्मन में रहे हुए अज्ञान रूपी अन्धकार को सर्वथा रूपेण विनष्ट कर देती है। और जीवन में जागृति का नव्य एवं भव्य संचार करती है।

✣ ✣ ✣

❑ आपका जन्म नागौर जिलान्तर्गत बड़ू ग्राम में दि. २४-१-१६५१ को हुआ। चौदह वर्ष की अल्पायु में ही उपाध्याय प्रवर श्री पुष्करमुनि जी म.सा. के पास आर्हती दीक्षा धारण की। न्याय, व्याकरण, काव्य, जैनागम, जैन साहित्य का तलस्पर्शी ज्ञान। संस्कृत, प्राकृत भाषा के आधिकारिक विद्वान्। लेखक एवं साहित्यकार। शोध एवं चिंतन प्रधान लेखन में सिद्धहस्त। सिद्धान्ताचार्य, काव्यतीर्थ, साहित्यशास्त्री। संस्कृत-प्राकृत में श्लोकों की रचना करना आपकी विशिष्टता है। संस्कृत-प्राकृत के अध्यापन एवं शोध निर्देशन में अभिरुचि। स्वभाव से सहृदयी, सरल एवं सौम्यता की प्रतिमूर्ति। 'गुणिषु प्रमोदं' की भावना अहर्निश मानस में व्याप्त। जैन विद्वानों में अग्रणी, सैकड़ों शोध प्रधान आलेख प्रकाशित। – सम्पादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org